अध्याय नौ

# संविधान—एक जीवंत दस्तावेज़

## परिचय

*इस अध्याय में हम पिछले पचपन वर्षों के दौरान संविधान के क्रियान्वयन और भारत की शासन प्रणाली में उसकी भूमिका पर विचार करेंगे। इस अध्याय को पढ़ने के बाद आप निम्नलिखित बातें जान सकेंगे–*

- *भारतीय संविधान को समय की आवश्यकताओं के अनुरूप संशोधित किया जा सकता है।*
- *संविधान में कई संशोधन किए जा चुके हैं परंतु इसका मूल स्वरूप नहीं बदला है।*
- *संविधान की रक्षा और उसकी व्याख्या में न्यायपालिका की महत्त्वपूर्ण भूमिका रही है।*
- *यह संविधान एक ऐसा दस्तावेज़ है जिसमें परिस्थितियों के अनुसार बदलाव आते गए हैं।*

## क्या संविधान अपरिवर्तनीय होते हैं?

परिस्थितिगत बदलाव, सामाजिक परिवर्तनों और कई बार राजनीतिक उठापटक के चलते विभिन्न राष्ट्रों ने अपने संविधान को दुबारा तैयार किया है। सोवियत संघ में 74 वर्षों के दौरान–(1918, 1924, 1936 और 1977) संविधान चार बार बदला गया। 1991 में वहाँ कम्युनिस्ट पार्टी का शासन समाप्त हो गया और जल्दी ही सोवियत गणराज्य भी बिखर गया। इस राजनीतिक भूचाल के बाद वहाँ रूसी गणराज्यों का नए सिरे से गठन किया गया और 1993 में एक नया संविधान अंगीकार किया गया।

अब ज़रा भारत की ओर नज़र दौड़ाएँ! भारतीय संविधान 26 नवंबर 1949 को अंगीकृत किया गया। इस संविधान को 26 जनवरी 1950 को औपचारिक रूप से लागू किया गया। तब से लेकर आज तक पचपन वर्ष बीत चुके हैं और यह संविधान लगातार काम कर रहा है। हमारे देश की सरकार इसी संविधान के अनुसार काम करती है।

तो, क्या हम यह मानें कि हमारा संविधान इतना अच्छा है कि उसमें किसी बदलाव की ज़रूरत ही नहीं है? क्या हमारे संविधान-निर्माता इतने दूरदर्शी थे कि उन्होंने समय के बदलावों और घटनाओं का अंदाजा पहले ही लगा लिया था? एक अर्थ में ये दोनों ही बातें ठीक हैं। यह बात सही है कि हमें एक मज़बूत संविधान विरासत में मिला है। इस संविधान की बनावट हमारे देश की परिस्थितियों के बेहद अनुकूल हैं। इसके साथ यह बात भी सही है कि हमारे संविधान-निर्माता अत्यंत दूरदर्शी थे। उन्होंने भविष्य के कई प्रश्नों का समाधान उसी समय कर लिया था। लेकिन कोई भी संविधान सदा सर्वदा के लिए ठीक नहीं हो सकता। ऐसा कोई दस्तावेज़ नहीं होता जिसे बदलने की आवश्यकता न पड़े।

इसी प्रकार फ्रांस ने भी दो सौ वर्षों के दौरान कई संविधान अपनाए। क्रांति के बाद और नेपोलियन के शासन काल में वहाँ संविधान को लेकर लगातार प्रयोग चलते रहे। क्रांति के बाद 1793 में वहाँ एक नया संविधान तैयार किया गया। प्रथम फ्रांसीसी गणतंत्र कहा जाता है। 1848 में वहाँ दूसरा संविधान लागू हुआ और उसी के साथ बना दूसरा फ्रांसीसी गणतंत्र। 1875 में तीसरा फ्रांसीसी गणतंत्र बना यानि तीसरी बार एक नया संविधान अपनाया गया। संविधान निर्माण के क्षेत्र में फ्रांस ने चौथा प्रयोग 1946 में किया। अंतत: वहाँ 1958 में एक और संविधान के साथ पाँचवे गणतंत्र की स्थापना की गई।

***जान पड़ता है कि संवैधानिक बदलाव और राजनीतिक विकास-क्रम का बड़ा गहरा आपसी रिश्ता है।***

तब, एक ही संविधान आखिर हमारे यहाँ इतने दिनों से कैसे काम करता रह सकता है? इस प्रश्न का एक उत्तर तो यह है कि हमारे संविधान में इस बात को स्वीकार करके चला गया है कि समय की ज़रूरत को देखते हुए इसके अनुकूल संविधान में संशोधन किये जा सकते हैं। दूसरी बात यह है कि संविधान के व्यावहारिक कामकाज में इस बात की पर्याप्त गुंजाइश रहती है कि किसी संवैधानिक बात की एक से ज्यादा व्याख्याएँ हो सकें। कहने का मतलब यह है कि हमारा संविधान लचीला है। अदालती फ़ैसले और राजनीतिक व्यवहार-बरताव दोनों ने संविधान के अमल में अपनी परिपक्वता और लचीलेपन का परिचय दिया है। इन्हीं वजहों के कारण हमारा संविधान कानूनों की एक बंद और जड़ किताब न बनकर एक जीवंत दस्तावेज़ के रूप में विकसित हो सका है।

समय के एक खास मोड़ पर अपने समाज के लिए संविधान तैयार कर रहे लोगों को एक आम चुनौती का सामना करना पड़ता है। यह तो स्वाभाविक ही है कि उस खास वक्त में समाज जिन समस्याओं का सामना कर रहा है उसके समाधान के प्रयासों की झलक संविधान के प्रावधानों में दिखाई देगी। लेकिन, संविधान को बनाते हुए इस बात का भी ध्यान रखना पड़ता है कि आगे आने वाले समय में वह सरकारों के कामकाज के लिए एक रूपरेखा प्रदान करे। इसलिए, किसी भी संविधान को भविष्य में पैदा होने वाली चुनौतियों का समाधान प्रस्तुत करने में भी सक्षम होना चाहिए। इस अर्थ में संविधान न केवल समकालीन परिस्थितियों और प्रश्नों से जुड़ा होता है बल्कि उसके कई सारे तत्त्व स्थायी महत्त्व के होते हैं।

*अमेरिका का संविधान 200 वर्ष पहले अस्तित्व में आया था। तब से लेकर आज तक उसमें केवल 27 संशोधन किए गए हैं। है न दिलचस्प बात!*

लेकिन इसी के साथ संविधान कोई जड़ और अपरिवर्तनीय दस्तावेज़ भी नहीं होता। संविधान की रचना मनुष्य ही करते हैं और इस नाते उसमें हमेशा संशोधन बदलाव और पुनर्विचार की गुंजाइश रहती है। संविधान समाज की इच्छाओं और आकांक्षाओं का प्रतिबिंब होता है लेकिन इस संबंध में हमें यह बात भी याद रखनी चाहिए कि संविधान समाज को लोकतांत्रिक ढंग से चलाने का एक ढाँचा भी होता है। इस दृष्टि से संविधान एक ऐसा उपकरण होता है जिसे समाज खुद अपने लिए गढ़ता है।

संविधान की यह दोहरी भूमिका संविधान की हैसियत को लेकर कुछ मुश्किल सवाल खड़े करती है। क्या संविधान इतना पवित्र दस्तावेज़ होता है कि उसमें कोई बदलाव किया ही नहीं जा सकता? दूसरी तरफ देखें तो यह पूछा जा सकता है कि क्या यह एक इतना आम फहम मसला है कि उसमें सामान्य कानून की तरह जब चाहे बदलाव किए जा सकते हैं?

भारतीय संविधान के निर्माताओं को इस समस्या का आभास था, इसलिए उन्होंने संविधान में एक संतुलन पैदा करने की कोशिश की। उन्होंने संविधान को सामान्य कानून से ऊँचा दर्जा दिया ताकि आने वाली पीढ़ियाँ उसे संमान की दृष्टि से देखें। साथ ही संविधान बनाते समय उन्होंने इस बात का भी ख्याल रखा कि भविष्य में इस दस्तावेज़ में संशोधन की आवश्कता पड़ सकती है। संविधान निर्माण की प्रक्रिया के दौरान भी वे इस बात को लेकर सचेत थे कि किसी मुद्दे पर लोगों की राय अलग-अलग हो सकती है। वे जानते थे कि जब समाज किसी मत विशेष की ओर ज्यादा आकृष्ट होगा तब संविधान के प्रावधानों में संशोधन की आवश्यकता महसूस की जाएगी। इसलिए संविधान बनाते समय दोनों बातों का ध्यान रखा गया यानी उसे पवित्र दस्तावेज़ मानने के साथ-साथ इतना लचीला भी बनाया गया कि उसमें समय की आवश्यकता के अनुरूप यथोचित बदलाव किए जा सकें। दूसरे शब्दों में हमारा संविधान कोई जड़ और अपरिवर्तनीय दस्तावेज़ नहीं है। इसमें किसी स्थिति के बारे में अंतिम निर्णय देने से बचा गया है। यह कोई अपरिवर्तनीय चीज़ नहीं है।

**कहाँ पहुँचे? क्या समझे ?**

कक्षा के अनेक छात्रों को उपरोक्त खंड स्पष्ट रूप से समझ में नहीं आया। छात्रों ने निम्नलिखित बातें कही। इस बारे में आपकी राय क्या है?

- संविधान किसी भी अन्य कानून की तरह ही होता है। उससे हमें सरकार के कामकाज के पीछे काम करने वाले नियमों और कानूनों के विषय में जानकारी मिलती है।
- संविधान जनता की इच्छा की अभिव्यक्ति होता है। अत: संविधान में एक ऐसा उपबंध किया जाना चाहिए ताकि उसे 10 या 15 वर्षों के बाद बदला जा सके।
- संविधान किसी देश के दर्शन को बयान करता है। उसे कभी नहीं बदला जा सकता।
- संविधान एक पावन दस्तावेज़ होता है इसलिए इसे बदलने की बात करना लोकतंत्र का विरोध करना है।

## संविधान में संशोधन कैसे किया जाता है?

*अनुच्छेद 368 ...*

***संसद अपनी संवैधानिक शक्ति के द्वारा और इस अनुच्छेद में वर्णित प्रक्रिया के अनुसार संविधान में नए उपबंध कर सकती है, पहले से विद्यमान उपबंधों को बदल या हटा सकती है।***

हम पहले ही कह चुके हैं कि हमारे संविधान निर्माता संविधान को एक संतुलित दस्तावेज़ बनाने के पक्षधर थे। संविधान को इतना लचीला होना ही चाहिए कि उसमें आवश्यकता के अनुसार बदलाव किए जा सकें। लेकिन साथ ही इसे अनावश्यक और अक्सर होने वाले बदलावों से बचाया जाना चाहिए। दूसरे शब्दों में संविधान निर्माता संविधान को एक ही साथ 'लचीला' और 'कठोर' बनाने के पक्ष में थे। यहाँ लचीले का मतलब है परिवर्तनों के प्रति खुली दृष्टि और कठोर का अर्थ है अनावश्यक परिवर्तनों के प्रति सख्त रवैया। लचीला संविधान वह होता है जिसमें आसानी से संशोधन किया जा सकें जिन संविधानों में संशोधन करना बहुत मुश्किल होता है ऐसे संविधानों को कठोर कहा जाता है। भारतीय संविधान में इन दोनों ही तत्त्वों का समावेश किया गया है।

*मुझे यह बात समझ नहीं आती कि कोई संविधान लचीला या कठोर कैसे होता है? क्या संविधान की कठोरता या उसका लचीलापन उस काल की राजनीति से तय नहीं होता?*

संविधान निर्माता जानते थे कि संविधान में त्रुटियाँ हो सकती हैं। वे समझते थे कि संविधान पूरी तरह दोषमुक्त नहीं हो सकता। वे संविधान को एक ऐसा रूप देना चाहते थे कि त्रुटि सामने आने पर उसका निवारण आसानी से किया जा सकें इस संविधान के कुछ प्रावधानों का स्वरूप अस्थायी था और इनके बारे में यह राय अपनायी गयी थी कि नयी संसद का गठन होने पर या बाद में इन प्रावधानों को हटा लिया जाएगा। हमारा संविधान एक संघीय राज्यव्यवस्था बनाने के पक्ष में था। इसलिए उसमें ऐसे प्रावधान किए गए थे कि राज्यों की शक्तियों को उनकी सहमति के बिना नहीं हटाया जा सकें इसके कुछ पक्ष इतने केंद्रीय महत्त्व के थे कि संविधान निर्माता उन्हें संशोधन के दायरे से बाहर रखना चाहते थे। अत: इन प्रावधानों की संशोधन प्रक्रिया को कठोर बनाना आवश्यक था। यही वजह है कि संविधान में संशोधन करने के लिए विभिन्न तरीके अपनाने पड़े।

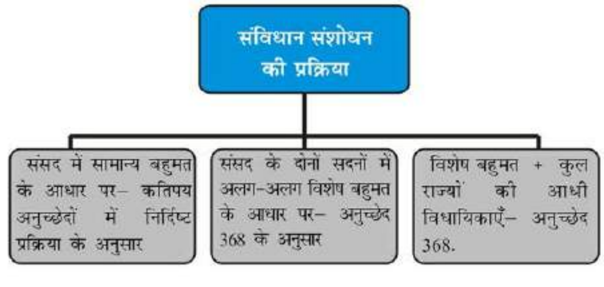

संविधान में ऐसे कई अनुच्छेद हैं जिनमें संसद सामान्य कानून बनाकर संशोधन कर सकती हैं। ऐसे मामलों में कोई विशेष प्रक्रिया अपनाने की जरूरत नहीं होती। इस प्रकार के संशोधन और सामान्य कानून में कोई अंतर नहीं होता। संविधान के इन हिस्सों को काफ़ी लचीला बनाया गया है। आगे संविधान के दो अनुच्छेद दिए गए हैं। इन्हें ध्यानपूर्वक पढ़ें। इन दोनों अनुच्छेदों में 'विधि द्वारा' शब्द का प्रयोग किया गया है जिसका अर्थ यह है कि संसद इन अनुच्छेदों में अनुच्छेद 368 में वर्णित प्रक्रिया को अपनाए बिना ही संशोधन कर सकती है। संविधान के अनेक अनुच्छेदों में संसद इसी सरल तरीके से संशोधन कर सकती है।

***अनुच्छेद 2 संसद विधि द्वारा संघ में ''' नए राज्यों को प्रवेश दे सकती है।***

***अनुच्छेद 3 संसद विधि द्वारा ''' किसी राज्य का क्षेत्रफल बढ़ा सकती है।***

संविधान के शेष खंडों में संशोधन करने के लिए अनुच्छेद 368 में प्रावधान किया गया है। इस अनुच्छेद में संविधान में संशोधन करने के दो तरीके दिए गए हैं। ये तरीके संविधान के सभी अनुच्छेदों पर एकसमान रूप से लागू नहीं होते। एक तरीके के अंतर्गत संसद के दोनों सदनों के विशेष बहुमत द्वारा संशोधन करने की बात कही गई है। दूसरा तरीका ज़्यादा कठोर है। इसके लिए संसद के विशेष बहुमत और राज्य विधानपालिकाओं की आधी संख्या की आवश्यकता होती है। ध्यान दें कि संविधान संशोधन की प्रक्रिया संसद से ही शुरू होती है। संसद के विशेष बहुमत के अलावा किसी बाहरी एजेंसी जैसे संविधान आयोग या किसी अन्य निकाय की संविधान की संशोधन प्रक्रिया में कोई भूमिका नहीं होती।

*अगर कुछ राज्य संविधान में संशोधन चाहते हैं तो क्या उनकी बात सुनी जाएगी? क्या ये राज्य अपनी तरफ से संशोधन का प्रस्ताव ला सकते हैं? मुझे लगता है कि यह राज्यों की तुलना में केंद्र को ज्यादा शक्तियाँ देने का ही एक और उदाहरण है।*

इसी प्रकार संसद या कुछ मामलों में राज्य विधानपालिकाओं में संशोधन पारित होने के पश्चात् इस संशोधन को पुष्ट करने के लिए किसी प्रकार के जनमत संग्रह की आवश्यकता नहीं होती। अन्य सभी विधेयकों की तरह

संशोधन विधेयक को भी राष्ट्रपति के अनुमोदन के लिए भेजा जाता है परंतु इस मामले में राष्ट्रपति को पुनर्विचार करने का अधिकार नहीं है। इन बातों से पता चलता है कि संशोधन की प्रक्रिया कितनी कठोर और जटिल हो सकती है। हमारे संविधान में इन जटिलताओं से बचा गया है। इससे हमारे यहाँ संशोधन की प्रक्रिया अपेक्षाकृत सरल हो गई है। लेकिन यहाँ एक महत्त्वपूर्ण तथ्य पर ध्यान दिया जाना चाहिए – संशोधन के प्रश्न पर अंतिम राय जनता के निर्वाचित प्रतिनिधियों की ही होती है। इसका अर्थ यह है कि संशोधन की प्रक्रिया का आधार निर्वाचित प्रतिनिधियों (संसदीय संप्रभुता) में निहित है।

## विशेष बहुमत

चुनाव, कार्यपालिका और न्यायपालिका से संबंधित अध्यायों में हम उन प्रावधानों का अध्ययन कर चुके हैं जिनमें संशोधन करने के लिए विशेष बहुमत की आवश्यकता होती है। एक बार पुन: याद करें कि विशेष बहुमत का क्या अर्थ होता है। सामान्यत: विधायिका में किसी प्रस्ताव या विधेयक को पारित करने के लिए सदन में उपस्थित सदस्यों के साधारण बहुमत की आवश्यकता होती है। कल्पना करें कि सदन में 247 सदस्य उपस्थित हैं। ये सभी सदस्य एक विधेयक पर मतदान करते हैं। अगर इन सदस्यों में से कम से कम 124 सदस्य विधेयक के पक्ष में मतदान करते हैं तो इस विधेयक को पारित माना जाएगा। लेकिन संशोधन विधेयक पर यह बात लागू नहीं होती। संविधान में संशोधन करने के लिए दो प्रकार के विशेष बहुमत की आवश्यकता होती है। सबसे पहले, संशोधन विधेयक के पक्ष में मतदान करने वाले सदस्यों की संख्या सदन के कुल सदस्यों की संख्या की कम से कम आधी होनी चाहिए। दूसरे, संशोधन का समर्थन करने वाले सदस्यों की संख्या मतदान में भाग लेने वाले सभी सदस्यों की दो तिहाई होनी चाहिए। संशोधन विधेयक को संसद के दोनों सदनों में स्वतंत्र रूप से पारित करने की आवश्यकता होती है। इसके लिए संयुक्त सत्र बुलाने का प्रावधान नहीं है। कोई भी संशोधन विधेयक विशेष बहुमत के बिना पारित नहीं किया जा सकता।

आखिर विशेष बहुमत का क्या औचित्य है? लोकसभा में 545 सदस्य होते हैं। अत: किसी भी संशोधन विधेयक का समर्थन करने के लिए 273 सदस्यों की आवश्यकता होती है। अगर मतदान के समय 300 सदस्य मौजूद हों तो विधेयक पारित करने के लिए 273 सदस्यों के समर्थन की आवश्यकता होगी।



लेकिन कल्पना करें कि लोकसभा के 400 सदस्यों ने किसी विधेयक पर होने वाले मतदान में भाग लिया है। इस विधेयक को पारित करने के लिए कितने सदस्यों के समर्थन

विश्व के आधुनिकतम संविधानों में संशोधन की विभिन्न प्रक्रियाओं में दो सिद्धांत ज्यादा अहम् भूमिका अदा करते हैं।

- एक सिद्धांत है विशेष बहुमत का। उदाहरण के लिए, अमेरिका, दक्षिण अफ्रीका, रूस आदि के संविधानों में इस सिद्धांत का समावेश किया गया है। अमेरिका में दो तिहाई बहुमत का सिद्धांत लागू है, जबकि दक्षिण अफ्रीका और रूस जैसे देशों में तीन चौथाई बहुमत की आवश्यकता होती है।
- दूसरा सिद्धांत है संशोधन की प्रक्रिया में जनता की भागीदारी का। यह सिद्धांत कई आधुनिक संविधानों में अपनाया गया है। स्विट्ज़रलैंड में तो जनता को संशोधन की प्रक्रिया शुरू करने तक का अधिकार है। रूस और इटली अन्य ऐसे देश हैं जहाँ जनता को संविधान में संशोधन करने या संशोधन के अनुमोदन का अधिकार दिया गया है।

*विशेष बहुमत के इस झंझट से मैं उकता गया हूँ। इसके लिए हमेशा ही बड़ा भारी जोड़-घटाव करना पड़ता है। भई यह राजनीति है या गणित?*

की आवश्यकता होगी। इसके अलावा, संशोधन विधेयक को संसद के दोनों सदनों में विशेष बहुमत के साथ स्वतंत्र रूप से पारित किया जाना चाहिए। इसका अर्थ यह है कि जब तक प्रस्तावित विधेयक पर पर्याप्त सहमति न बन पाए तब तक उसे पारित नहीं किया जा सकता। सत्तारूढ़ दल काफी कम बहुमत और विपक्ष के विरोध के बावजूद बजट या अपनी पसंद का विधेयक पारित करा सकता है, लेकिन अगर यह दल संविधान में संशोधन करना चाहता है तो उसे कुछ विपक्षी दलों को विश्वास में लेना पड़ेगा। इस तरह संशोधन प्रक्रिया के पीछे बुनियादी भावना यह है कि उसमें राजनीतिक दलों और सांसदों की व्यापक भागीदारी होनी चाहिए।

जो लोग इस संविधान से असंतुष्ट हैं, उन्हें केवल दो तिहाई बहुमत प्राप्त करना है और यदि वे (इतना)... भी प्राप्त नहीं कर सकते हैं तो यह नहीं समझा जा सकता है कि जन साधारण उनके असंतोष में उनका साथ दे रहा है। यहाँ गौर करने की बात यह है कि डा. अंबेडकर सिर्फ संसदीय बहुमत की बात नहीं कर रहे हैं। इस संदर्भ में वे जनता की राय का उल्लेख भी करते हैं। इससे पता चलता है कि बहुमत की धारणा के पीछे जनमत की भावना काम करती है। जनमत का यही सिद्धांत निर्णय प्रक्रिया को नियंत्रित करता है।

डा. अंबेडकर
संविधान सभा के वाद-विवाद, खंड XI, पृष्ठ 976, 25 नवंबर 1949

## राज्यों द्वारा अनुमोदन

संविधान के कुछ अनुच्छेदों में संशोधन करने के लिए विषेश बहुमत पर्याप्त नहीं होता। राज्यों और केंद्र सरकार के बीच शक्तियों के वितरण से संबंधित या जन प्रतिनिधित्व से संबंधित अनुच्छेदों में संशोधन करने के लिए राज्यों से परामर्श करना और उनकी सहमति प्राप्त करना आवश्यक होता है। पीछे हमने संविधान की संघीय प्रकृति के बारे में अध्ययन किया है। संघीय संरचना का अर्थ यह है कि राज्यों की शक्तियाँ केंद्र सरकार की दया पर निर्भर नहीं करती। संविधान में राज्यों की शक्तियों को सुनिश्चित करने के लिए यह व्यवस्था की गई है कि जब तक आधे राज्यों की विधान पालिकाएँ किसी संशोधन विधेयक को पारित नहीं कर देती तब तक वह संशोधन प्रभावी नहीं माना जाता। संघीय संरचना से संबंधित प्रावधानों के अलावा मौलिक अधिकारों के प्रावधानों को भी इसी प्रकार रक्षणीय बनाया गया है। इस अर्थ में यह कहा जा सकता है कि संविधान के कुछ हिस्सों के बारे में राजनीति से एक व्यापक सहमति की अपेक्षा की जाती है। इस प्रावधान में राज्यों के अधिकारों को भी जगह दी गई है। इसके अंतर्गत राज्यों को संशोधन की प्रक्रिया में भाग लेने का अधिकार दिया गया है। उल्लेखनीय है कि संशोधन की प्रक्रिया के कठोर होने के बावजूद उसे फिर भी काफी हद तक लचीला बनाया गया है। हम देख सकते हैं कि संशोधन के लिए केवल आधे राज्यों के अनुमोदन और राज्य विधानपालिकाओं के साधारण बहुमत की आवश्यकता होती है। इस प्रकार देखा जा सकता है कि शर्तों की कठोरता के बावजूद संशोधन करने की प्रक्रिया अव्यावहारिक नहीं है। संक्षेप में, भारतीय संविधान में संशोधन करने के लिए व्यापक बहुमत की आवश्यकता पड़ती है। इस प्रक्रिया में राज्यों को सीमित भूमिका दी गई है। हमारे संविधान निर्माता इस बात को लेकर सचेत थे कि संविधान में संशोधन की प्रक्रिया को इतना आसान नहीं बना दिया जाना चाहिए कि उसके साथ जब चाहे छेड़खानी की जा सके। लेकिन साथ ही उन्होंने इस बात का ख्याल भी रखा कि भावी पीढ़ियाँ अपने समय की जरूरतों के हिसाब से इसमें आवश्यक संशोधन कर सके।

### कहाँ पहुँचे? क्या समझे ?

भारतीय संविधान में निम्नलिखित संशोधन करने के लिए कौन-कौन-सी शर्तें पूरी की जानी चाहिए? उचित स्थान पर सही का निशान लगाएँ।

| संशोधन का विषय | विशेष बहुमत | राज्यों द्वारा अनुमोदन |
|---|---|---|
| नागरिकता संबंधी अनुच्छेद | | |
| धार्मिक स्वतंत्रता का अधिकार | | |
| केंद्र सूची में परिवर्तन | | |
| राज्य की सीमाओं में बदलाव | | |
| चुनाव आयोग से संबंधित उपबंध | | |

## संविधान में इतने संशोधन क्यों किए गए हैं?

26 जनवरी, 2006 को हमारे संविधान को लागू हुए 56 वर्ष हो गए। दिसंबर, 2005 तक इसमें 92 संशोधन किए जा चुके थे। संशोधन प्रक्रिया की कठोरता को देखते हुए संशोधनों की यह संख्या काफी बड़ी मानी जाएगी। आइए जानने का प्रयास करें कि इतने सारे संशोधनों के पीछे क्या वजहें रही हैं और इसके निहितार्थ क्या हैं।

आइए जरा एक नज़र संशोधनों के इतिहास पर डालें। अगले पन्ने पर दिए गए ग्राफ़ को ध्यानपूर्वक देखें और इसे समझने का प्रयास करें। ग्राफ़ में एक ही सूचना को दो भिन्न तरीकों से दर्शाया गया है। पहले ग्राफ़ में प्रत्येक दस वर्षों के दौरान हुए संवैधानिक संशोधनों की संख्या को दर्शाया गया है। इसमें दिए गए स्तंभ उस अवधि के दौरान संशोधनों की संख्या को चिन्हित करते हैं। दूसरे ग्राफ़ में प्रत्येक दस संशोधनों की अवधि को दिखाया गया है। आप पाते हैं कि 1970 से 1990 तक के दो दशकों के दौरान बड़े स्तर पर संशोधन हुए। दूसरी ओर, दूसरा ग्राफ़ हमें एक और ही कहानी बताता है; 1974 से 1976 बीच तीन वर्ष के अंतराल में दस

***हमारे संविधान में इतनी बार संशोधन क्यों किए गए? क्या हमारे समाज या हमारे संविधान में कुछ समस्या है?***

संवैधानिक संशोधन किए गए। पुन: 2001 से 2003 तक ठीक तीन वर्षों के दौरान भी दस संवैधानिक संशोधन किए गए। हमारे देश के राजनीतिक इतिहास में ये दो कालखंड बहुत महत्त्वपूर्ण हैं। पहले काल के दौरान कांग्रेस सत्ता में थी। कांग्रेस पार्टी को संसद में भारी बहुमत मिला था। लोकसभा में उसके 352 सदस्य थे और ज़्यादातर राज्य विधान सभाओं में भी वह बहुमत की स्थिति में थी। दूसरी ओर, 2001 से 2003 के बीच का काल गठबंधन की राजनीति का काल माना जाता है। यह एक ऐसा भी काल था जिसमें विभिन्न राज्यों में अलग-अलग दलों की सरकारें काम कर रही थीं। इस काल की एक अन्य विशेषता भाजपा और इसके विरोधी दलों के बीच कटु प्रतिद्वंद्विता थी। लेकिन इस काल में दस संशोधन किए गए। इसलिए ये संशोधन केवल सत्ताधारी पार्टी के बहुमत पर ही निर्भर नहीं करते थे।

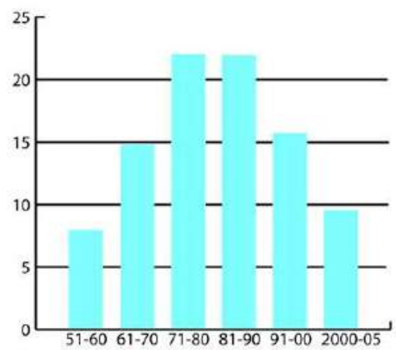


**ग्राफ़-1**
**एक दशक के दौरान किए गए संशोधन**

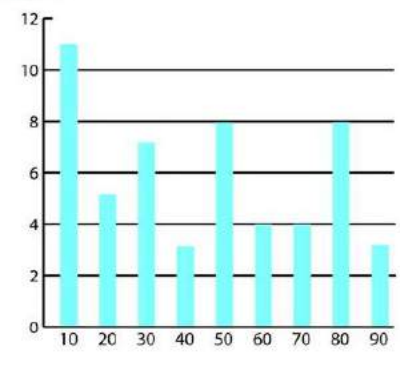


**ग्राफ़-2**
**दस संशोधनों की अवधि**

संशोधनों की संख्या को लेकर हमेशा आलोचना होती रही है। यह कहा जाता है कि भारतीय संविधान में बहुत अधिक संशोधन किए गए हैं। बाहरी तौर पर पचपन वर्षों की अवधि के दौरान संविधान में 92 संशोधनों की बात अजीब लगती है। लेकिन ऊपर के दोनों ग्राफ़ देखने से पता चलता है कि इन संशोधनों के पीछे केवल राजनीतिक सोच ही प्रमुख नहीं रही है। संविधान के पहले दशक को छोड़कर शेष दशकों में संशोधनों की एक धारा-सी बहने लगती है। इसका अर्थ है कि संशोधनों के पीछे सत्ताधारी दल की राजनीतिक सोच बहुत मायने नहीं रखती थी बल्कि ये संशोधन समय की जरूरतों के अनुसार किए गए थे। क्या इसके पीछे मूल संविधान की कमजोरियाँ भी काम कर रही या संविधान ही बहुत लचीला है?

## संशोधनों की विषय-वस्तु

अब तक किए संशोधनों को तीन श्रेणियों में बाँटा जा सकता है। पहली श्रेणी में वे संशोधन शामिल किए गए हैं जो तकनिकी या प्रशासनिक प्रकृति के हैं और ये संविधान के मूल उपबंधों को स्पष्ट बनाने, उनकी व्याख्या करने तथा छिट-पुट संशोधन से संबधित हैं। उन्हें केवल सिर्फ तकनिकी भाषा में संशोधन कहा जा सकता है। वास्तव में वे इन उपबंधों में कोई विशेष बदलाव नहीं करते।

उच्च न्यायालय के न्यायाधीशों की सेवानिवृत्ति की आयु सीमा को 60 वर्ष से बढाकर 62 वर्ष (15वाँ संशोधन) करना और इसी प्रकार, सर्वोच्च न्यायालय के न्यायाधीशों का वेतन बढ़ाने संबंधी संशोधन (55वाँ संशोधन) इसी बात के उदाहरण हैं। एक अन्य उदाहरण के रूप में हम विधायिकाओं में अनुसूचित जाति और अनुसूचित जनजाति के लिए सीटों के आरक्षण संबंधी उपबंधों को ले सकते हैं। मूल उपबंध में आरक्षण की बात दस वर्ष की अवधि के लिए कही गई थी। किंतु इन वर्गों को उचित प्रतिनिधित्त्व देने के लिए इस अवधि को प्रत्येक दस वर्षों की समाप्ति पर एक संशोधन द्वारा आगामी दस वर्षों के लिए बढ़ाना आवश्यक समझा गया। इस संबंध में अब तक पाँच संशोधन किए जा चुके हैं परंतु इन संशोधनों से मूल उपबंधों में कोई अंतर नहीं आया है। इस प्रकार हम कह सकते हैं कि ये केवल तकनिकी संशोधन हैं।

*हाँ, मुझे लगता है कि हमें संशोधनों की संख्या के बजाय बदलावों पर ध्यान देना चाहिए। राजनीति के छात्र होने के नाते हमें इसी बात पर गौर करनी चाहिए।*

क्या आपको राष्ट्रपति के पद से संबंधित चर्चा याद है? मूल संविधान में यह माना गया था कि हमारी संसदीय व्यवस्था में राष्ट्रपति सामान्यत: मंत्री परिषद् की सलाह के अनुसार कार्य करेगा। इस संबंध में बाद में एक संशोधन किया गया और अनुच्छेद 74(1) में यह स्पष्ट कर दिया गया कि मंत्री परिषद् की सलाह राष्ट्रपति के लिए बाध्यकारी होगी। क्या इस संशोधन से वास्तव में कोई अंतर पड़ा है? इसे स्थापित परंपरा की निरंतरता के रूप में देखा जा सकता है अर्थात इस संशोधन में केवल संवैधानिक उपबंधों की व्याख्या भर की गई है।

## व्याख्याएँ– विभिन्न दृष्टिकोण

संविधान की व्याख्या को लेकर न्यायपालिका और सरकार के बीच अकसर मतभेद पैदा होते रहे हैं। संविधान के अनेक संशोधन इन्हीं मतभेदों की उपज के रूप में देखे जा सकते हैं। इस तरह के टकराव पैदा होने पर संसद को संशोधन का सहारा लेकर संविधान की किसी एक व्याख्या को प्रामाणिक सिद्ध करना पड़ता है। प्रजातंत्र में विभिन्न संस्थाएँ संविधान और अपनी शक्तियों की अपने-अपने तरीके से व्याख्या करती हैं। यह लोकतांत्रिक व्यवस्था का एक अहम लक्षण है। कई बार संसद इन न्यायिक व्याख्याओं से सहमत नहीं होती और उसे न्यायपालिका के नियमों को नियंत्रित करने के लिए संविधान में संशोधन करना पड़ता है। 1970 से 1975 के दौरान ऐसी अनेक परिस्थितियाँ पैदा हुईं।

***मुझे बात अब भी समझ नहीं आ रही है। लिखित संविधान में अलग-अलग व्याख्याओं की क्या ज़रूरत है? क्या लोग संविधान में अपनी इच्छाओं को मूर्त होते देखना चाहते हैं?***

न्यायपालिका तथा अधिकारों से संबंधित अध्यायों में आप संसद तथा न्यायपालिका के बीच उठने वाले विवादों के बारे में पहले ही पढ़ चुके हैं। इस संबंध में हम तीन दृष्टांतों का उल्लेख कर सकते हैं। मौलिक अधिकारों और नीति निर्देशक सिद्धांतों को लेकर संसद और न्यायपालिका के बीच अकसर मतभेद पैदा होते रहे हैं। इसी प्रकार निजी संपत्ति के अधिकार के दायरे तथा संविधान में संशोधन के अधिकार की सीमा को लेकर भी दोनों के बीच विवाद उठते रहे हैं। 1970 से 1975 के काल में संसद ने न्यायपालिका की प्रतिकूल व्याख्या को निरस्त करते हुए बार-बार संशोधन किए।

यहाँ यह याद रखना ज़रूरी होगा कि इस दौर(1970–1975) में भारतीय राजनीति में अनेक महत्त्वपूर्ण घटनाएँ घटी। इसलिए हमारा संवैधानिक इतिहास पूरे तौर पर इस काल की राजनीति के संदर्भ में ही समझा जा सकता है। अगले वर्ष स्वतंत्र भारत के राजनीतिक इतिहास का अध्ययन करते समय आपको इस बारे में और जानकारी मिलेगी।

## राजनीतिक आम सहमति के माध्यम से संशोधन

तीसरे, बहुत से संशोधन ऐसे हैं जिन्हें राजनीतिक दलों की आपसी सहमति का परिणाम माना जा सकता है। एक अर्थ में कहा जा सकता है कि ये संशोधन तत्कालीन राजनीतिक दर्शन और समाज की आकांक्षाओं को समाहित करने के लिए किए गए थे। वास्तव में, 1984 के बाद किए गए अनेक संशोधन इसी श्रेणी में रखे जा सकते हैं। यहाँ एक बार पुन: पिछले प्रश्न को याद करें–गठबंधन सरकारों के बावजूद इतने संशोधन क्यों किए गए? इस प्रश्न का उत्तर यह है कि इनमें से कई संशोधनों के पीछे व्यापक आम सहमति काम कर रही थी। राजनीतिक उथल-पुथल के इस दौर में हम अनेक संशोधनों को आकार लेते देखते हैं। संशोधनों के इस दीर्घ क्रम की शुरुआत दल बदल विरोधी कानून(52वाँ संशोधन) से हुई थी।

*इसका मतलब कुछ मामलों में राजनीतिज्ञ एक-दूसरे से सहमत होते हैं। मगर सहमति के अर्थ को लेकर उनके बीच विवाद फिर भी बना ही रहता है।*

दल बदल विरोधी कानून(52वाँ तथा 91वाँ संशोधन) के अलावा इस काल में मताधिकार की आयु को 21 से 18 वर्ष करने के लिए 73वाँ और 74वाँ संशोधन किए गए। इस काल में नौकरियों में आरक्षण सीमा बढ़ाने और प्रवेश संबंधी नियमों को स्पष्ट करने के लिए भी संशोधन किए गए। सन् 1992–93 के बाद इन कदमों को लेकर देश में एक आम सहमति का माहौल पैदा हुआ और इन मुद्दों से संबंधित संशोधन पारित करने में कोई खास दिक्कत नहीं आई।

## विवादास्पद संशोधन

हमारी अब तक की चर्चा से यह भावना पैदा नहीं होनी चाहिए कि संविधान में संशोधन करने के प्रश्न पर आज तक कोई विवाद ही पैदा नहीं हुआ है। सच्चाई यह है कि सत्तर से अस्सी के दशक में इन संशोधनों को लेकर विधि और राजनीति के दायरों में भारी बहस छिड़ी थी। 1971–1976 के काल में विपक्षी दल इन संशोधनों को संदेह की दृष्टि से देखते थे। उनका मानना था कि

इन संशोधनों के माध्यम से सत्तारूढ़ दल संविधान के मूल स्वरूप को बिगाड़ना चाहता है। इस संबंध में, 38वाँ, 39वाँ और 42वाँ संशोधन विशेष रूप से विवादास्पद रहे हैं।

जून 1975 में देश में आपातकाल की घोषणा की गई। ये तीन संशोधन इसी पृष्ठभूमि से निकले थे। इन संशोधनों का लक्ष्य संविधान के कई महत्त्वपूर्ण हिस्सों में बुनियादी परिवर्तन करना था।

*अच्छा! तो, सारा मामला राजनीति से जुड़ा है। क्या मैं यही बात नहीं कह रही थी कि संविधान और संशोधन के मसले कानून के बजाय राजनीति से ज्यादा संबंधित हैं?*

पिछले तीन दशकों में संविधान की बुनियादी संरचना को लेकर देश की सभी संस्थाओं में सहमति पैदा हुई है। वास्तव में, संविधान का 42वाँ संशोधन एक बड़ा संशोधन है। इसने संविधान को गहरे स्तर पर प्रभावित किया। एक प्रकार से यह सर्वोच्च न्यायालय द्वारा केशवानंद मामले में दिए गए निर्णय को भी चुनौती थी। यहाँ तक कि इसके तहत लोकसभा की अवधि को भी 5 वर्ष से बढ़ाकर 6 वर्ष कर दिया गया। आपने मूल कर्तव्यों के बारे में अवश्य पढ़ा होगा। उन्हें संविधान में इसी संशोधन द्वारा जोड़ा गया था। संविधान का 42वाँ संशोधन न्यायपालिका की समीक्षा शक्तियों पर भी प्रतिबंध लगाता है। यह कहा जाता है कि इस संशोधन के द्वारा संविधान के एक बड़े मौलिक हिस्से को नए सिरे से लिखा गया। क्या आप जानते हैं कि इस संशोधन के द्वारा संविधान की प्रस्तावना, सातवीं अनुसूची तथा 53 अनुच्छेदों में परिवर्तन किए गए। जब यह संशोधन संसद में पास किया गया तो विरोधी दलों के बहुत से सांसद जेल में थे। इसी पृष्ठभूमि में 1977 के चुनाव हुए और सत्ताधारी दल (कांग्रेस) की हार हुई। नई सरकार ने इन विरोधाभासी संशोधनों पर पुन: विचार करना आवश्यक समझा और 38वें, 39वें तथा 42वें संशोधन के माध्यम से जो परिवर्तन किए गए थे उनमें से अधिकांश को 43वें, 44वें संशोधन के द्वारा निरस्त कर दिया। इन संशोधनों के माध्यम से संवैधानिक संतुलन को पुन: लागू किया गया।

### खुद करें खुद सीखें

शिक्षा के अधिकार संबंधी संशोधन को देखें। आप इसके महत्त्व के बारे में क्या सोचते हैं?

## संविधान की मूल संरचना तथा उसका विकास

भारतीय संविधान के विकास को जिस बात ने बहुत दूर तक प्रभावित किया है वह है संविधान की मूल संरचना का सिद्धांत। आप यह बात पहले से ही जानते हैं कि इस सिद्धांत को न्यायपालिका ने केशवानंद भारती के प्रसिद्ध मामले में प्रतिपादित किया था। इस निर्णय ने संविधान के विकास में निम्नलिखित सहयोग दिया:

- इस निर्णय के द्वारा संसद की संविधान में संशोधन करने की शक्तियों की सीमाएँ निर्धारित की गई।
- यह संविधान के किसी या सभी भागों के संपूर्ण संशोधन (निर्धारित सीमाओं के अंदर) की अनुमति देता है।
- संविधान की मूल संरचना या उसके बुनियादी तत्त्व का उल्लंघन करने वाले किसी संशोधन के बारे में न्यायपालिका का फ़ैसला अंतिम होगा – केशवानंद भारतीय मामले में यह बात स्पष्ट हो गई।

सर्वोच्च न्यायालय ने केशवानंद के मामले में 1973 में निर्णय दिया था। बाद के तीन दशकों में संविधान की सभी व्याख्याएँ इसको ध्यान में रखकर की गयी।

*अच्छा! तो आखिरी फ़ैसला न्यायपालिका के हाथ में होता है। क्या इसे भी न्यायिक सक्रियता कहा जा सकता है?*

संरचना का सिद्धांत स्वयं में ही एक जीवंत संविधान का उदाहरण है। संविधान में इस अवधारणा का कोई उल्लेख नहीं मिलता। यह एक ऐसा विचार है जो न्यायिक व्याख्याओं से जन्मा है। विगत तीन दशकों के दौरान बुनियादी संरचना के सिद्धांत को व्यापक स्वीकृति मिली है। इस तरह देखा जाए तो न्यायपालिका और उसकी व्याख्याओं के चलते भी संविधान में संशोधन हुए हैं।

सभी जीवंत संविधान बहस, तर्क-वितर्क, प्रतिस्पर्द्धा और व्यावहारिक राजनीति की प्रक्रिया से गुजर कर ही विकसित होते हैं।

1973 के बाद न्यायालयों ने कई मामलों में बुनियादी संरचना के तत्त्वों को निर्धारित करने का प्रयास किया है। एक अर्थ में, बुनियादी संरचना के सिद्धांत से संविधान की कठोरता और लचीलेपन का संतुलन और मजबूत ही हुआ है। संविधान के कुछ हिस्सों को संशोधन के दायरे से बाहर रखने और उसके कुछ हिस्सों को संशोधन प्रक्रिया के अंतर्गत लाने से कठोरता और लचीलेपन का संतुलन निश्चय ही पुष्ट हुआ है।

### संविधान की समीक्षा

नवें दशक के अंतिम वर्षों में समूचे संविधान की समीक्षा करने का विचार सामने आया। सन् 2000 में भारत सरकार ने उच्चतम न्यायालय के सेवा निवृत्त मुख्य न्यायाधीश श्री वेंकटचलैया की अध्यक्षता में एक आयोग नियुक्त किया जिसका उद्देश्य संविधान के कामकाज की समीक्षा करना था। विपक्षी दल तथा अन्य संगठनों ने इस आयोग का बहिष्कार किया। आयोग को लेकर उठा राजनीतिक विवाद अपनी जगह है लेकिन गौर करने की बात यह है कि आयोग ने बुनियादी संरचना में विश्वास जताया और ऐसे किसी कदम की सिफारिश नहीं की जिससे संविधान की बुनियादी संरचना को चोट पहुँचती हो। इससे पता चलता है कि हमारे संविधान में बुनियादी संरचना के सिद्धांत को कितना महत्त्व दिया गया है।

*यह बात पूरी तरह गलत है। पहले तो आप कहते हैं कि संशोधन के लिए सहमति जरूरी है। लेकिन हम देखते हैं कि न्यायाधीश संविधान के समूचे अर्थ को ही बदल डालते हैं।*

ऐसे कई और उदाहरण मौजूद हैं जिनसे स्पष्ट होता है कि संविधान की समझ को बदलने में न्यायिक व्याख्याओं की अहम भूमिका रही है। नौकरियों तथा शैक्षिक संस्थाओं में आरक्षण सीमा तय करने के संबंध में उच्चतम न्यायालय ने यह फ़ैसला दिया है कि आरक्षित सीटों की संख्या सीटों की कुल संख्या के आधे से अधिक नहीं होनी चाहिए। इस निर्णय को अब एक सिद्धांत के रूप में स्वीकार कर लिया गया है। इसी प्रकार अन्य पिछड़े वर्गों को आरक्षण नीति के अंतर्गत स्थान देते हुए उच्चतम न्यायालय ने क्रीमी लेयर का विचार सामने रखा और यह फ़ैसला दिया कि इस श्रेणी से संबंधित व्यक्तियों को आरक्षण के लाभ नहीं मिलने चाहिए। इसी तरह, न्यायपालिका ने शिक्षा, जीवन, स्वतंत्रता और अल्पसंख्यक समूहों की संस्थाओं की स्थापना और उनके प्रबंधन के अधिकारों के उपबंधों में अनौपचारिक रूप से कई संशोधन किए हैं। इन उदाहरणों से स्पष्ट होता है कि न्यायालय के आदेशों की भी संविधान के विकास में महत्त्वपूर्ण भूमिका होती है।

### कहाँ पहुँचे? क्या समझे?

बताएँ कि निम्नलिखित वाक्य सही हैं या गलत ?

(क) बुनियादी ढाँचे को लेकर दिए गए फ़ैसले के बाद, संसद को संविधान में संशोधन करने का अधिकार नहीं रह गया है।

(ख) सर्वोच्च न्यायालय ने हमारे संविधान के बुनियादी तत्त्वों की एक सूची तैयार की है। इस सूची को बदला नहीं जा सकता।

(ग) न्यायालय को इस बात का फ़ैसला करने का अधिकार है कि किसी संशोधन से बुनियादी संरचना का उल्लंघन होता है या नहीं।

(ग) केशवानंद भारती मामले के बाद यह तय हो चुका है कि संसद संविधान में किस सीमा तक संशोधन कर सकती है।

## संविधान एक जीवंत दस्तावेज़

हमने संविधान को एक जीवंत दस्तावेज़ माना है। इसका क्या अर्थ है?

लगभग एक जीवित प्राणी की तरह यह दस्तावेज़ समय-समय पर पैदा होने वाली परिस्थितियों के अनुरूप कार्य करता है। जीवंत प्राणी की तरह ही यह अनुभव से सीखता है। वास्तव में यह उस पहेली का उत्तर है जिसका जिक्र हमने शुरुआत में संविधान के टिकाऊपन के बारे में किया था। समाज में इतने सारे परिवर्तन होने के बाद भी हमारा संविधान अपनी गतिशीलता, व्याख्याओं के खुलेपन और बदलती परिस्थितियों के अनुसार परिवर्तनशीलता की विशेषताओं के कारण प्रभावशाली रूप से कार्य कर रहा है। यही लोकतांत्रिक संविधान का असली मानदंड है।

लोकतंत्र में व्यावहारिकताएँ तथा विचार समय-समय पर विकसित होते रहते हैं और समाज में इसके अनुसार प्रयोग चलते रहते हैं। कोई भी संविधान जो प्रजातंत्र को समर्थ बनाता हो और नए प्रयोगों के विकास का रास्ता खोलता हो वह केवल टिकाऊ ही नहीं होता बल्कि अपने नागरिकों के बीच सम्मान का पात्र भी होता है। महत्त्वपूर्ण सवाल यह है कि क्या संविधान खुद का और लोकतंत्र का संरक्षण करने में सक्षम है?

पिछले पचपन वर्षों के दौरान देश की राजनीति तथा संवैधानिक विकास के मामले में बहुत ही महत्त्वपूर्ण परिस्थितियाँ पैदा हुईं। इस अध्याय में हम उनमें से कुछ परिस्थितियों का उल्लेख कर चुके हैं। 1950 से संवैधानिक तथा वैधानिक मुद्दों

*हाँ मैं समझ गई! यह कुछ सी-सॉ झूले की तरह है। क्या इसे रस्साकशी कहना ज़्यादा उचित होगा?*

के बारे में बार-बार सामने आने वाला सबसे गंभीर प्रश्न संसद की सर्वोच्चता का था। संसदीय लोकतंत्र में संसद देश की जनता का प्रतिनिधित्व करती है और इसलिए ऐसा माना जाता है कि कार्यपालिका तथा न्यायपालिका पर इसको वरीयता प्राप्त है। इसी प्रकार संविधान में सरकार के अन्य घटकों को भी शक्तियाँ प्रदान की गई हैं। इसलिए यह अपेक्षा की जाती है कि संसद की सर्वोच्चता इस ढाँचे के अंतर्गत ही हो। प्रजातंत्र का अर्थ केवल वोट तथा जन प्रतिनिधियों तक ही सीमित नहीं है। प्रजातंत्र का अर्थ विकासशील संस्थाओं से है और इनके माध्यम से ही वह कार्य करता है। सभी राजनीतिक संस्थाओं को लोगों के प्रति उत्तरदायी होना चाहिए और दोनों को एक दूसरे के साथ मिलकर चलना चाहिए।

### न्यायपालिका का योगदान

न्यायपालिका तथा संसद के विवाद के दौरान संसद का मानना था कि उसके पास गरीब, पिछड़े तथा असहाय लोगों के हितों की रक्षा के लिए कानून बनाने (संशोधन करने) की शक्ति मौजूद है। न्यायपालिका इस बात पर ज़ोर दिया कि ये सब कार्यकलाप संवैधानिक ढाँचे के अंतर्गत किए जाने चाहिए और जनहित के उपाय विधिक सीमाओं के बाहर नहीं होने चाहिए क्योंकि एक बार कानून की सीमाओं से बाहर जाने की छूट मिलने पर सत्ताधारी उसका दुरुपयोग भी कर सकते हैं। प्रजातंत्र में जितना महत्त्व जनकल्याण को दिया जाता है उतना ही ध्यान इस बात पर देना पड़ता है कि सत्ता का दुरूपयोग न होने पाए।

भारतीय संविधान की सफलता इन तनावों को सुलझाने में ही निहित है। न्यायपालिका ने केशवानंद के मामले में संविधान की भाषा पर नहीं बल्कि उसकी आत्मा के आधार पर निर्णय दिया। संविधान पढने पर आपको संविधान के मूल ढाँचे के बारे में कहीं उल्लेख नहीं मिलेगा। संविधान में ऐसा कहीं भी नहीं कहा गया है कि उसका फलाँ भाग मूल संरचना का हिस्सा है। इस प्रकार मूल संरचना न्यायपालिका द्वारा स्वयं विकसित की गई अवधारणा है।

न्यायपालिका ने इस अवधारणा को कैसे विकसित किया? पिछले तीन दशकों के दौरान अन्य संस्थाओं ने इसे किस प्रकार अपनाया है?

यहीं आकर हमें शब्द और भावना के बीच का अंतर पता चलता है। न्यायालय का यह मानना है कि किसी दस्तावेज़ को पढ़ते समय हमें उसके निहितार्थ पर ध्यान देना चाहिए। कानून की भाषा की अपेक्षा उस कानून या दस्तावेज़ के पीछे काम करने वाली सामाजिक परिस्थितियाँ तथा अपेक्षाएँ अधिक महत्त्वपूर्ण होती हैं। इसलिए न्यायालय ने संविधान की मूल संरचना पर विशेष ध्यान दिया क्योंकि इसके बिना संविधान की कल्पना ही नहीं की जा सकती।

*बिलकुल ठीक! अगर अधिकार न हों और चुनाव न कराए जाएँ तो संविधान का कोई खास मतलब नहीं रह जाता और अगर जनता खुशहाल न हो तो अधिकार और चुनाव बेमानी हो जाते हैं। क्या संविधान की मूल भावना का अर्थ यही है?*

## राजनीतिज्ञों की परिपक्वता

उपर्युक्त अनुच्छेद में न्यायपालिका के बारे में की गई हमारी चर्चा से एक और तथ्य उजागर होता है। 1967 से 1973 के दौरान पैदा हुए कटु विरोधाभासों के दौर में संसद तथा कार्यपालिका ने एक संतुलित तथा दीर्घकालीन समाधान की आवश्यकता को महसूस किया। केशवानंद के मामले में सर्वोच्च न्यायालय के निर्णय के बाद, न्यायालय द्वारा इस पर पुनर्विचार कराने के प्रयास किए गए। जब ये सारे प्रयास विफल रहे तो 42 वाँ संशोधन किया गया और संसद की सर्वोच्चता स्थापित की गई लेकिन मिनर्वा मिल प्रकरण (1980) में न्यायालय ने अपने पहले लिए गए निर्णय को पुन: दोहराया। इसलिए केशवानंद मामले में निर्णय दिए जाने के तीन दशकों के बाद भी संविधान की व्याख्या में इस निर्णय ने सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण भूमिका अदा की। राजनैतिक दलों, राजनेताओं, सरकार तथा संसद ने भी मूल संरचना के संवेदनशील विचार को स्वीकृति प्रदान की। यद्यपि संविधान की समीक्षा की बात चलती रही लेकिन यह प्रक्रिया संविधान की मूल संरचना के सिद्धांत द्वारा निर्धारित सीमाओं के परे नहीं जा सकती।

*हमें यह बात भी नहीं भूलनी चाहिए कि कई बार राजनीतिज्ञ अपरिपक्वता का व्यवहार करते हैं। क्या ऐसे मामलों का जिक्र करना जरूरी है?*

संविधान का निर्माण करते समय भारत के नेताओं और जनता के सामने एक साझे भविष्य की तस्वीर थी। नेहरू ने स्वतंत्रता के अवसर पर दिए एक प्रसिद्ध भाषण में इस सामूहिक स्वप्न को भाग्य के साथ करार बताया था। संविधान सभा के सदस्य भी इस आदर्श अर्थात् व्यक्ति की गरिमा और आज़ादी, सामाजिक-आर्थिक समानता, जनता की खुशहाली और राष्ट्रीय एकता में विश्वास करते थे। यह आदर्श आज भी

संविधान सभा में भी कई सदस्य ऐसे थे जो इस संविधान को भारतीय परिस्थितियों के अनुकूल नहीं मानते थे :

यह संविधान जिन आदर्शों पर आधारित है उनका भारत की आत्मा से कोई संबंध नहीं है।... यह संविधान... यहाँ की परिस्थितियों में कार्य नहीं कर पाएगा और लागू होने के कुछ समय बाद ही ठप्प हो जाएगा।

लक्ष्मीनारायण साहू

संविधान सभा के वाद-विवाद, खंड XI, पृष्ठ 613, 17 नवंबर 1949

धूमिल नहीं पड़ा है। यही कारण है कि आधी सदी गुजर जाने के बाद भी लोग संविधान का सम्मान करते हैं और उसे महत्त्व देते हैं। जनता की चेतना को निर्देशित करने वाले ये बुनियादी मूल्य आज भी उतने ही कारगर हैं।

## निष्कर्ष

बुनियादी संरचना में कौन-कौन से तत्त्व निहित हैं– इस बात को लेकर अभी तक अनिर्णय की स्थिति बनी हुई है। इन बहसों के चलते रहने में कोई बुराई नहीं है। हमें यह बात हमेशा याद रखनी चाहिए कि बहस और मतभेद लोकतांत्रिक राजनीति के अनिवार्य अंग होते हैं। साथ ही हमारे राजनैतिक दलों और नेतृत्व ने भी इन बहसों के मामले में परिपक्वता का परिचय दिया है। उन्होंने इस बात का विशेष ध्यान रखा है कि राजनीतिक प्रश्नों से जुड़ी बहस और तर्क-वितर्क मार्यादा के बाहर न जाए। समझौतों और आदान-प्रदान के बिना राजनीति नहीं चलती। अतिवादी रूख अपनाना सैद्धांतिक दृष्टि से ठीक हो सकता है, वैचारिक स्तर पर ऐसा करना काफी आकर्षक भी दिखता है। लेकिन, राजनीति में सभी पक्षों को अपने अतिवादी विचारों और नज़रिए को छोड़कर एक न्यूनतम साझी समझ विकसित करनी पड़ती है। इसके बिना लोकतांत्रिक राजनीति आगे नहीं बढ़ सकती। हमारे यहाँ की जनता और राजनीतिज्ञों ने इन बातों को भली-भाँति समझा है। इसी मर्यादित व्यवहार के

कारण हमारा लोकतांत्रिक संविधान सफल रहा है। सरकार के विभिन्न अंगों के बीच सर्वोच्च होने की प्रतिद्वंद्विता हमेशा चलती रहेगी। जनकल्याण के अभिप्राय को लेकर भी उनके बीच द्वंद्व बना रहेगा। लेकिन अंततः निर्णय जनता के हाथों में ही रहता है। वस्तुतः लोकतंत्र का उद्देश्य और लोकतांत्रिक राजनीति का अंतिम लक्ष्य जनता की आज़ादी और खुशहाली है।

## प्रश्नावली

1. निम्नलिखित में से कौन-सा वाक्य सही है–
   (क) संविधान में समय-समय पर संशोधन करना आवश्यक होता है क्योंकि
   (ख) परिस्थितियाँ बदलने पर संविधान में उचित संशोधन करना आवश्यक हो जाता है।
   (ग) किसी समय विशेष में लिखा गया दस्तावेज़ कुछ समय पश्चात् अप्रासंगिक हो जाता है।
   (घ) हर पीढ़ी के पास अपनी पसंद का संविधान चुनने का विकल्प होना चाहिए।
   (ङ) संविधान में मौजूदा सरकार का राजनीतिक दर्शन प्रतिबिंबित होना चाहिए।

2. निम्नलिखित वाक्यों के सामने सही/गलत का निशान लगाएँ।
   (क) राष्ट्रपति किसी संशोधन विधेयक को संसद के पास पुनर्विचार के लिए नहीं भेज सकता।
   (ख) संविधान में संशोधन करने का अधिकार केवल जनता द्वारा चुने गए प्रतिनिधियों के पास ही होता है।
   (ग) न्यायपालिका संवैधानिक संशोधन का प्रस्ताव नहीं ला सकती परंतु उसे संविधान की व्याख्या करने का अधिकार है। व्याख्या के द्वारा वह संविधान को काफी हद तक बदल सकती है।
   (घ) संसद संविधान के किसी भी खंड में संशोधन कर सकती है।

3. निम्नलिखित में से कौन भारतीय संविधान की संशोधन प्रक्रिया में भूमिका निभाते हैं? इस प्रक्रिया में एकैसे शामिल होते हैं?
   (क) मतदाता
   (ख) भारत का राष्ट्रपति
   (ग) राज्य की विधान सभाएँ
   (घ) संसद

(ङ) राज्यपाल

(च) न्यायपालिका

4. इस अध्याय में आपने पढ़ा कि संविधान का 42वाँ संशोधन अब तक का सबसे विवादास्पद संशोधन रहा है। इस विवाद के क्या कारण थे?

(क) यह संशोधन राष्ट्रीय आपातकाल के दौरान किया गया था। आपातकाल की घोषणा अपने आप में ही एक विवाद का मुद्दा था।

(ख) यह संशोधन विशेष बहुमत पर आधारित नहीं था।

(ग) इसे राज्य विधानपालिकाओं का समर्थन प्राप्त नहीं था।

(घ) संशोधन के कुछ उपबंध विवादास्पद थे।

5. निम्नलिखित वाक्यों में कौन-सा वाक्य विभिन्न संशोधनों के संबंध में विधायिका और न्यायपालिका के टकराव की सही व्याख्या नहीं करता–

(क) संविधान की कई तरह से व्याख्या की जा सकती है

(ख) खंडन-मंडन/बहस और मतभेद लोकतंत्र के अनिवार्य अंग होते हैं।

(ग) कुछ नियमों और सिद्धांतों को संविधान में अपेक्षाकृत ज्यादा महत्त्व दिया गया है। कतिपय संशोधनों के लिए संविधान में विशेष बहुमत की व्याख्या की गई है।

(घ) नागरिकों के अधिकारों की रक्षा की जिम्मेदारी विधायिका को नहीं सौंपी जा सकती।

(ङ) न्यायपालिका केवल किसी कानून की संवैधानिकता के बारे में फ़ैसला दे सकती है। वह ऐसे कानूनों की वांछनीयता से जुड़ी राजनीतिक बहसों का निपटारा नहीं कर सकती।

6. बुनियादी ढाँचे के सिद्धांत के बारे में सही वाक्य को चिन्हित करें। गलत वाक्य को सही करें।

(क) संविधान में बुनियादी मान्यताओं का खुलासा किया गया है।

(ख) बुनियादी ढाँचे को छोड़कर विधायिका संविधान के सभी हिस्सों में संशोधन कर सकती है।

(ग) न्यायपालिका ने संविधान के उन पहलुओं को स्पष्ट कर दिया है जिन्हें बुनियादी ढाँचे के अंतर्गत या उसके बाहर रखा जा सकता है।

(घ) यह सिद्धांत सबसे पहले केशवानंद भारती मामले में प्रतिपादित किया गया है।

(ङ) इस सिद्धांत से न्यायपालिका की शक्तियाँ बढ़ी हैं। सरकार और विभिन्न राजनीतिक दलों ने भी बुनियादी ढाँचे के सिद्धांत को स्वीकार कर लिया है।

7. सन् 2000–2003 के बीच संविधान में अनेक संशोधन किए गए। इस जानकारी के आधार पर आप निम्नलिखित में से कौन-सा निष्कर्ष निकालेंगे–

   (क) इस काल के दौरान किए गए संशोधनों में न्यायपालिका ने कोई ठोस हस्तक्षेप नहीं किया।

   (ख) इस काल के दौरान एक राजनीतिक दल के पास विशेष बहुमत था।

   (ग) कतिपय संशोधनों के पीछे जनता का दबाव काम कर रहा था।

   (घ) इस काल में विभिन्न राजनीतिक दलों के बीच कोई वास्तविक अंतर नहीं रह गया था।

   (ङ) ये संशोधन विवादास्पद नहीं थे तथा संशोधनों के विषय को लेकर विभिन्न राजनीतिक दलों के बीच सहमति पैदा हो चुकी थी।

8. संविधान में संशोधन करने के लिए विशेष बहुमत की आवश्यकता क्यों पड़ती है? व्याख्या करें।

9. भारतीय संविधान में अनेक संशोधन न्यायपालिका और संसद की अलग-अलग व्याख्याओं का परिणाम रहे हैं। उदाहरण सहित व्याख्या करें।

10. अगर संशोधन की शक्ति जनता के निर्वाचित प्रतिनिधियों के पास होती है तो न्यायपालिका को संशोधन की वैधता पर निर्णय लेने का अधिकार नहीं दिया जाना चाहिए। क्या आप इस बात से सहमत हैं? 100 शब्दों में व्याख्या करें।